

# लोकविद्या की राजनीति

अपने बारे में जो संस्थाएं यह दावा करती हैं कि वे किसी एक देश की नहीं बल्कि सारी दुनिया की हैं, उनके बोल-वचन अकसर सारी मानवता के लिए नहीं होते। गौर से पढ़ें तो उसमें किसी की खास तरफदारी नजर आती है। लोकविद्या को बचाना और उसका वाजिब सम्मान दिलाना एक बात है- और लोकविद्या को बचाने के लिए पार-राष्ट्रीय संस्थानों के बोल को सत्य-वचन मानकर चलना एकदम दूसरी बात। लोकविद्या को बचाने की राजनीति से आगाह कराता आलेख।

## अमित बसोले



भारतीय समाज में 90 फीसदी लोग ऐसे हैं, जो कभी कॉलेज नहीं गए। ये किसान, कारीगर, मजदूर, महिलाएं, छोटे-दुकानदार अपने ज्ञान के बल पर अपनी जीविका चलाते हैं और अपने समाज को गढ़ते हैं। इनके पास की विद्या, लोकविद्या है। लेकिन लोकविद्या केवल उत्पादन का ज्ञान नहीं है, बल्कि ज्ञान की एक पूरी व्यवस्था है, जिसमें तर्क, मूल्य और दर्शन भी मौजूद हैं। उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के परिवर्तन के विचार, लोकहित की बात करते हुए भी लोकविद्या को दरकिनार करते हैं। इसकी वजह है विद्या-लोक में साइंस का वर्चस्व। परिवर्तन के इन विचारों में जनता की भागीदारी को तो जायज महत्व प्राप्त है, मगर लोगों के अपने विचारों, अपने दृष्टिकोण, तर्क, मूल्य, आदि को अत्यंत सीमित स्थान मिलता है। यह सोच परिवर्तन की राजनीति में भी नहीं मिलती कि समाज का वह बहुसंख्य तबका जिसे औपनिवेशिक काल में गढ़ी संस्थाओं में जगह नहीं मिली- किसान, कारीगर, आदिवासी, छोटे धंधा करने वाले तमाम लोग- समाज को अपनी एक दिशा दे सकते हैं। बल्कि कमोबेश सोच यही रही है कि समाज के इस तबके को बाहरी मार्गदर्शन की जरूरत है, शिक्षा की आवश्यकता है, वह शिक्षा जो पढ़े-लिखों के पास है। इन लोगों के पास अपनी जीविका चलाने मात्र का ज्ञान हो सकता है, लेकिन ‘अशिक्षित’ लोग समाज का संचालन कैसे करेंगे? इसलिए परिवर्तन की राजनीति में भी पढ़े-लिखे लोगों की ही

अगुवाई रही है।

1980 के दशक से दुनिया में हो रहे बदलाव जैसे सूचना क्रांति, इंटरनेट युग, ज्ञान का पूंजीवाद आदि, लोगों के हित की राजनीति में लोकविद्या के लिए एक नई जमीन बनाते हैं। ज्ञान के पूंजीवाद के युग में साइंस के प्रभुत्व पर प्रश्नचिह्न लगा है। जबसे समाज को उत्पादन के नजरिए से न देखकर ज्ञान के नजरिए से देखा जाने लगा, यह बात खुल कर सामने आई कि साइंस के अलावा भी दुनिया में ज्ञान है। और जहां विश्वविद्यालय में पढ़े लोग इस बहस में उलझ गए कि इस ज्ञान को साइंस के दर्जे का माना जाए या नहीं, पूंजीपतियों ने इस ज्ञान का शोषण करने में कोई झिझक नहीं दिखाई। वे तो यहां तक भी कहने को तैयार हैं कि साइंस के अलावा दुनिया में जो विद्या है, वह अपने को सिद्ध करने के लिए साइंस की मोहताज नहीं है, बस बाजार में उसकी बिक्री हो, इतना काफी है। जो ज्ञान, समझ, हुनर आदि गैर-साइंसी (अन-साइंटिफिक) करार दिए गए थे अब उन्हें ज्ञान के जगत में, पूंजी के जरिए ही क्यों न हो, स्थान मिल रहा है।

ज्ञान की दुनिया में हो रही यह उथल-पुथल एक नए सिरे से लोकहित की राजनीति खड़े करने के अवसर पैदा करती है। लेकिन इसके लिए साइंस की आलोचना या पारंपरिक ज्ञान की बात करना काफी नहीं है। देशज ज्ञान, पारंपरिक ज्ञान आदि के नाम पर इस ज्ञान को पूंजी की सेवा में रखने का काम जोरों से जारी है। लोकविद्या न देशज है और न पारंपरिक, लेकिन इसके इन आयामों का फायदा वैश्विक पूंजीवाद को होता है। इसलिए विश्व व्यापार संगठन, वर्ल्ड बैंक आदि के माध्यम से देशज

अथवा पारंपरिक ज्ञान की सुरक्षा की बात सुनने को मिलती है। इस ज्ञान को सुरक्षित रखने का मतलब है इसे पूंजीवादी बाजार की सेवा में रखना ताकि समाज के उन तबकों का भी सीधा शोषण हो सके जो अब तक पूंजीवादी रिश्तों से बाहर थे। लोकविद्या दृष्टिकोण इस पारंपरिक ज्ञान को बचाने के प्रकल्पों के खिलाफ है। लोकविद्या नित-नवीन है और लुप्त नहीं हो सकती, क्योंकि वह सामान्य जीवन में आने वाली नई चुनौतियों के साथ बदलती रहती है। यह वह परंपरा नहीं है जो स्थायी होती है और खो जाती है, बल्कि वह जीवंत परंपरा है, जो समाज के एक बड़े तबके को अपना जीवन रचने का साधन देती है। इसलिए लोकविद्या की राजनीति का यह उद्देश्य नहीं है कि ज्ञान के विविध रूपों की सूची बने या पारम्परिक ज्ञान, शिल्प आदि को विश्व के बाजार में स्थान प्राप्त हो।

लोकविद्या का विचार सूचना युग में लोकहित का विचार है। इस दृष्टिकोण से वे बहुसंख्य लोग जिन्होंने कभी किसी उच्च-शिक्षा के संस्थान में कदम नहीं रखा, भी ज्ञानी दिखाई पड़ते हैं। लोकविद्या की राजनीति का एक पहलू लैटिन अमेरिका के आदिवासियों में मिलता है, जो आंदोलनों के जरिये यह कह रहे हैं कि साइंस मनुष्य को विनाश की ओर ले जा रहा है और साइंस की पैदा की हुई समस्याओं का समाधान हमें साइंस के बाहर ढूंढना होगा। इसका दूसरा महत्वपूर्ण पहलू है विस्थापन और संसाधनों की लूट के खिलाफ भारत में हो रहे संघर्ष। जल-जंगल-जमीन की लड़ाई न सिर्फ संसाधनों पर नियंत्रण की लड़ाई है बल्कि लोकविद्याधर समाज को अपनी विद्या के बल पर अपना जीवन रचने के अधिकार की लड़ाई है। जैसे समाजवादी विचार से लैस कोई व्यक्ति मजदूरों की वेतन-बढ़ोतरी की मांग या ट्रेड यूनियन की विविध मांगों में भी समाज परिवर्तन के लक्षण देखता है, लोकविद्या का विचार रखने वाला व्यक्ति जल-जंगल-जमीन की लड़ाई और किसानों के विविध आंदोलनों में न सिर्फ जीविका बचाने के प्रयास, बल्कि एक नए समाज को रचनेवाली ताकत को देखता है। अगर यह दावा

## डेंजर : स्कूल !

रामावतार सिंह

डेंजर : स्कूल ! जी हां ! स्कूल बहुत बड़ा खतरा है-सारी दुनिया के लिए। ‘डेंजर स्कूल’ ऐसी ही पुस्तक है, जो स्कूली व्यवस्था के षड्यंत्र का पर्दाफाश करती है। इसमें स्कूली-व्यवस्था की शुरुआत से लेकर अब तक के घातक प्रभावों को पुस्तक में कार्टून-चित्रों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। साथ ही संस्थागत ढांचों और आधुनिक औद्योगिक दुनिया पर भी करारा व्यंग्य किया गया है।

स्कूल को एक फैक्टरी के रूप में दिखाया गया है, जिसमें बच्चों को नाजुक एवं रजिस्टर्ड पार्सल की तरह जमा किया जाता है और अंत में ऐसे उत्पादों के रूप में बाहर निकाला जाता है, जो



अनुशासित, आज्ञाकारी और बिना सोचे किसी भी आदेश का पालन करने लायक होते हैं। बच्चों को सिखाया जाता है कि वे चुपचाप बैठें। यहां केवल शिक्षक बोलता है, जानता है, आदेश देता है, फैसला करता है और सजा देता है। स्कूली-दुनिया की अपनी अलग भाषा है, जो बच्चों की भाषा से मेल नहीं खाती। यहां केवल वही स्वीकार किया जाता है, जो पाठ्यपुस्तक एवं शिक्षक के अनुसार मान्य है। बच्चों

को अलग-अलग वर्गों में विभाजित किया जाता है और उनके बीच प्रतिस्पर्धात्मक माहौल तैयार किया जाता है। बच्चों पर ऐसे विषय थोपे जाते हैं, जिनका जीवन में कोई उपयोग नहीं है।

यह उन लोगों के लिए झकझोरने वाली पुस्तक है, जो स्कूली-व्यवस्था में ही रहकर बदलाव की आशा रखते हैं। इस पुस्तक से प्रेरित होकर मैंने अपने अनुभवों का विश्लेषण किया है। बच्चों, अभिभावकों और शिक्षकों के साथ हुई चर्चाओं का पुनरावलोकन किया है। इससे पूर्व मैंने 5 साल तक अनौपचारिक पाठशालाओं के साथ काम किया है। किंतु आज मैं अपने माथे से शिक्षक और प्रशिक्षक का लेबल उतार चुका हूँ। स्कूल, अनौपचारिक पाठशालाओं और स्कूली दायरों से बाहर विविध कार्यशालाओं में अपने अनुभवों के आधार पर मैं भी एक ‘कार्टून-पुस्तिका’ तैयार कर रहा हूँ, ताकि अपने स्कूली-जीवन की कड़वी सच्चाइयों को उजागर कर सकूँ और स्वयं सीखने के मौकों के ओर लोगों का ध्यान आकर्षित कर सकूँ।

डेंजर : स्कूल’ पुस्तक का हिन्दी संस्करण भारत ज्ञान विज्ञान समिति ने प्रकाशित किया है। पुस्तक के अनुवादक, संपादक अरविन्द गुप्ता और विनोद रायना हैं।

पेश किया जाए कि लोकविद्या विश्वविद्यालय में मिलने वाले ज्ञान के बराबर है, तो ये संघर्ष केवल जीविका बचाने वाले संघर्ष न रह कर रचनात्मक संघर्ष बनने की क्षमता रखते हैं। विस्थापन जमीन से हो या बाजार से जब तक यह दावा नहीं किया जाता कि किसान और कारीगर उसी दर्जे का ज्ञान रखते हैं, जो कि पढ़े-लिखे लोग रखते हैं, तब तक विस्थापन के विरुद्ध लड़ाई विकास के खिलाफ लड़ाई ही दिखाई पड़ेगी। जो संगठन आज किसानों और कारीगरों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर यह लड़ाई लड़ रहे हैं, वह भी कल उनके विरोध में और विकास के पक्ष में न चले जाएं

इसका हल लोकविद्या के विचार में है।

यह सवाल उठ सकता है कि कहीं लोकविद्या की बात कालेज की डिग्री से वंचित लोगों को हमेशा इससे दूर रखने की साजिश तो नहीं है? इसका उत्तर यह है कि लोकविद्याधर समाज जब तक पढ़े-लिखे समाज की पहल पर शिक्षा ग्रहण करता है, यह शिक्षा उसके एक छोटे हिस्से को नई पूंजीवादी व्यवस्था या सरकारी व्यवस्था में स्थान दिला सकती है, लेकिन पूरे समाज की भलाई इसी तरह होगी ऐसा प्रतीत नहीं होता। इसके विपरीत लोकविद्या की राजनीति यह दवा रखती है कि अगर शिक्षा लोकविद्याधर समाज

के पहल पर होती है, तो इसमें पूरे समाज की भलाई है। विकासवादी नजरिए और राजनैतिक नजरिए में शायद यही फर्क है। इस लिए लोकविद्या का सवाल केवल शिक्षा का सवाल नहीं है। ना ही ऐसी कोई मांग रखी जा रही है कि पढ़े-लिखे लोग लोकविद्या को अपने ज्ञान के बराबर का दर्जा दें। बराबरी देने से नहीं मिलती। इसे एक राजनीति खड़ी करके हासिल किया जाता है। और जिसके ज्ञान के बल पर राजनीति खड़ी होती है पहल भी उसी की होती है। लोकविद्या जन आंदोलनों के जरिये समाज परिवर्तन की पहल फिर लोगों के बीच से उठ सकती है। ज्ञान की दुनिया में हस्तक्षेप अभी तक पढ़े-लिखे लोगों के हाथ में ही रहा है। कई किस्म के विचार सामने आए हैं, देशजता का विचार, ज्ञान के विऔपनिवेशिकरण की बात, डी-स्कूलिंग आदि। इनमें से कुछ लोकविद्या की राजनीति को और सक्षम कर सकते हैं, लेकिन इसका फैसला जन आंदोलन ही कर सकते हैं, न कि बुद्धिजीवी। किसानों के, कारीगरों के, ग्रामीण महिलाओं के जन-संगठन लोकविद्या के बल पर किसी भी और विद्या से अपना काम ले सकते हैं, बशर्ते पहल इन संगठनों की होगी, न कि एनजीओ या बुद्धिजीवियों की।

अंत में यह भी कहना उचित होगा कि हालांकि लोकविद्या का सवाल एक राजनैतिक सवाल है, केवल दर्शन का सवाल नहीं है, फिर भी लोकविद्या के बल पर छिड़े संघर्षों और आंदोलनों में जो बहस चलेगी उसमें दर्शन और ज्ञानमीमांसा (एपिस्टेमोलोजी) के सवाल भी उठने चाहिए और इन मुद्दों पर आम जनता की राय आनी चाहिए। ज्ञान को परखने और जांचने के तर्क और मूल्य अंततः सामान्य जीवन से तय होते हैं यह भी लोकविद्या विचार है और यह साइंस की सत्ता के चलते मुमकिन नहीं है। उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद की लूट के बल पर साइंस ने दुनिया के बहुसंख्य लोगों को अज्ञानी कहने का दुस्साहस किया। यानि ज्ञान की दुनिया में भी जिसकी लाठी उसकी भैंस, जिसके मूल्य उसका सत्य। अपने आप को एकमेव तर्कसंगत ज्ञान का दर्जा देकर साइंस ने सत्य पर अपना एकाधिकार जमा दिया। यह एकाधिकार अब टूटने को है। सवाल यह है कि क्या हम लोकविद्या की राजनीति खड़ी करके इस मौके का फायदा उठा सकते हैं? □